

## उत्तर-आधुनिकतावाद

पिछले दो तीन दशकों से उत्तर-आधुनिकतावाद की कतिपय बुद्धिजीवी हलकों में गूँज सुनायी पड़ रही है। कहा जा रहा है कि आधुनिकता का युग और उससे जुड़ी हुई "प्रबोधन परियोजनायें" अतीत की बातें हो गई हैं। दुनिया एक नये युग में प्रवेश कर रही है। ल्योतार इसे उत्तर-आधुनिकता की स्थिति (Conditions of Postmodernity) बताते हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद की जड़ें वे "उत्तर औद्योगिक समाज" में बता रहे हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद एक दार्शनिक व विश्लेषण पद्धति के रूप में '70 के दशक के उत्तरार्ध में फ्रांस से शुरू होकर यूरोपीय देशों और अमरीका तथा कनाडा में '80 के दशक में एक प्रभावशाली विचारधारा के तौर पर शिक्षण संस्थानों और बुद्धिजीवी हलकों में स्थापित हो गयी थी। फ्रांसीसी दार्शनिकों में ल्योतार, बाउड्रीलार्ड, देरिदा और फूको प्रमुख हैं। '90 के दशक में इसकी एक शाखा के तौर पर उत्तर-औपनिवेशिकता या उत्तर-उपनिवेशवाद की विचारधारा भारत सहित दुनिया के अलग-अलग देशों में चर्चा का विषय बनी है। हालांकि उत्तर-उपनिवेशवाद की धारणा इसके पहले भी भिन्न अर्थ में इस्तेमाल होती रही थी।

उत्तर-आधुनिकतावाद की भिन्न-भिन्न किस्में हैं। लेकिन उनमें कुछ बुनियादी मामलों में समानता है। वे ये हैं: वे सभी "महाख्यानों" (Grand Narratives) को संदेह की नजर से देखते हैं। वे सार्वभौमिकता के स्थान पर विशिष्टता या स्थानीयता पर जोर देते हैं। वे बहुलवाद के पक्षधर हैं। उनके अनुसार, सच्चाई होती नहीं बल्कि निर्मित की जाती है, सच्चाई निर्मित करने का साधन भाषा होती है। भाषा और ज्ञान वास्तविकता को प्रतिबिम्बित नहीं करते बल्कि प्रत्येक भाषा अपने तरीके से लेखक के माध्यम से वास्तविकता को निर्मित करती है।

फूको भाषा को सत्ता, प्रभुत्व और दमन के क्षेत्र में देखते हैं, जो पागलघरों और जेलों जैसी विशिष्ट सामाजिक संस्थाओं में साफ तौर पर दिखाई पड़ती है। फूको के अनुसार, सत्ता सब जगह है, यह कहीं केन्द्रित नहीं है। इसलिये इसके विरोध का भी वास्तविकता में कोई केन्द्र नहीं है। देरिदा पाठ (Text) का विखण्डन (Deconstruction) करके तरह-तरह के विरोधी निष्कर्षों तक पहुंचते हैं। वे "पाठ" के भीतर और "पाठ" के बाहर जाकर निष्कर्ष निकालते हैं।

'80 के दशक के अन्त में जब सूचना राजपथ (Information Highway) का जोर आया, इंटरनेट के माध्यम से समूची दुनिया में सूचनाओं का आदान-प्रदान और सम्पर्क आसानी से होने लगा तो बाउड्रीलार्ड ने कहा कि पूंजीवाद के भीतर ही एक बुनियादी परिवर्तन आ गया है जहां हम साइबरस्पेस (Cyber-space) के स्वतंत्र विचरण करने वाले बिम्बों (Image) और मीडिया द्वारा खड़ी की गई घटनाओं के अतिवास्तविक (Hyper-real) विश्व में रहते हैं। इनके अनुसार, आज की अवस्था को इस तरह चित्रित किया जा सकता है, जहाँ बड़े पैमाने के उत्पादन का स्थान लचीले किस्म के उत्पादन ने ले लिया है। मैनुफैक्चर के परम्परागत उत्पादों के ऊपर सूचना और सेवा उद्योगों की सम्प्रभुता स्थापित हो चुकी है। उत्पादन की तुलना में उपभोग पर जोर हो गया है। परम्परागत वर्ग आधारित राजनीति का स्थान पहचानों (Identities) पर आधारित राजनीति ने ले लिया है। संचार प्रौद्योगिकी के विकास ने समूचे विश्व के लोगों के बीच दूरियां बहुत कम कर दी हैं।

कई अलग-अलग प्रवृत्तियों का सामान्यीकरण उत्तर-आधुनिकतावाद है। उत्तर-मार्क्सवाद, उत्तर-संरचनावाद और उत्तर-उपनिवेशवाद इन प्रवृत्तियों में प्रमुख हैं।

प्रस्तुत लेख में उत्तर-आधुनिकतावाद और सभी उत्तर-संज्ञाओं को मूलतया एक ही मानते हुए इनकी विचारधारात्मक और राजनीतिक जड़ों को समझने का प्रयास किया गया है।

## भाववादी विश्व दृष्टिकोण

उत्तर-आधुनिकतावाद का दार्शनिक दृष्टिकोण भाववादी है। यह भाववाद भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त होता है। मसलन, वास्तविकता होती नहीं, निर्मित की जाती है। किसी परिणाम के पीछे कोई कारण नहीं होता। भाषा जो हमें वाक्यों के रूप में कहती है। पाठ (Text) संकेत (Sign) बिम्ब (Image) ही वास्तविकता का निर्माण करते हैं। बाउड्रीलार्ड के अनुसार मॉडल (Model) या अधिरचना वास्तविकता का निर्माण करती है।

दार्शनिकों में शुरु से ही भाववाद और भौतिकवाद के बीच संघर्ष रहा है। इस संघर्ष की मूल बात यह रही है कि, पदार्थ प्रमुख है कि चेतना? इससे जुड़ी हुई बात यह रही है कि पदार्थ और चेतना को दो अलग-अलग श्रेणियों में रखते हुये भी चेतना को पदार्थ से पूर्णतया स्वतंत्र मान लेने या उसे मानव मस्तिष्क पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के तौर पर स्वीकार करने पर भाववाद और भौतिकवाद के बीच संघर्ष रहा है। उत्तर-आधुनिकतावादी इस संघर्ष में भाववाद को स्थापित करते हैं। जब वे कारण और परिणाम के बीच सम्बंध-विच्छेद करते हैं तो वे नीत्से और हाइडेगर्गर के दर्शन के नजदीक पहुंच जाते हैं। नीत्से ने पदार्थ और चेतना के स्थान पर सत्ता की कामना के रूप में "जीवन" प्रवर्ग स्थापित किया था। नीत्से के अनुसार, परम और वस्तुगत सच्चाई, कारण और परिणाम, मूल्य जैसी कोई चीज नहीं होती। यदि परम और वस्तुगत सच्चाई को जाना नहीं जा सकता तो दुनिया की व्याख्या भी नहीं हो सकती। तब वास्तविकता का निरूपण लोग अपनी भाषा में अपने तरीके से करेंगे, ऐसा उत्तर-आधुनिकतावादियों का कहना है। यह भाषाई भाववाद वस्तुतः प्रकृति और मानव समाज के नियमों को जानने से ही इंकार करता है। चूंकि सच्चाई को समझा नहीं जा सकता, विश्व को और मानव समाज की घटनाओं को समझा नहीं जा सकता इसलिये इसको बदला भी नहीं जा सकता। यह निष्कर्ष उत्तर-आधुनिकतावादी निकालते हैं।

उत्तर-आधुनिकतावादियों का यह दावा कि वास्तविकता को भाषा के माध्यम से विवेचनात्मक (Discursive) तरीके से निर्मित किया जाता है, वस्तुतः भाववाद है और यह समूचे ज्ञान, सिद्धान्त को सिर के बल पर खड़ा कर देता है।

जबकि मार्क्सवाद का ज्ञान, सिद्धान्त वास्तविकता को या सच्चाई को समझने का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। मार्क्सवाद के अनुसार "बिना पदार्थ के चेतना की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यदि अनुभूति बिना पदार्थ के अस्तित्व में है, तब विचार भी बिना मस्तिष्क के मौजूद है—यह मस्तिष्कविहीन दर्शन है।" (लेनिन, भौतिकवाद और अनुभव सिद्ध आलोचना)

और भी, आगे एंगेल्स कहते हैं:

"हमारी चेतना और सोच, वे कितना भी अतिसंवेदन मालूम पड़ते हों, भौतिक, शरीर के अंग की, मस्तिष्क की उपज है। पदार्थ मन की उपज नहीं है, बल्कि खुद मन पदार्थ की ही उच्चतम उपज है। वस्तुतः यह शुद्ध भौतिकवाद है।" (F. Engels, 'Ludwig Feuerbach and the End of Classical German Philosophy', FLP Peking 1976, pp: 21 अनुवाद हमारा)

भाषा के प्रश्न पर मार्क्सवाद कहता है कि वह भी सामाजिक जीवन की उपज है। श्रम करने की प्रक्रिया में मनुष्य ने अपने अनुभवों को सामान्यीकरण करने की कोशिश की तथा वस्तुओं व प्रक्रियाओं के बारे में अपने सामान्यीकरण को प्रेषित करने की जरूरत महसूस की और यह सब सामूहिक श्रम करते हुये की गयी, इस प्रकार भाषा एक आवश्यकता बन गई।

"भाषा उतनी ही पुरानी है जितनी कि चेतना। भाषा वास्तविक और व्यावहारिक चेतना है जो दूसरों के लिये भी उतना ही अस्तित्व रखती है। चेतना की तरह भाषा भी आवश्यकता की वजह से और दूसरे मानवों के साथ अंतर्क्रिया करने तथा सम्बंध रखने की आवश्यकता से उत्पन्न हुई।" (Marx- Engels, 'The German Ideology', Collected Works Vol. 5, Moscow 1976, pp: 44 अनुवाद हमारा)

मार्क्स और एंगेल्स ने भाषा को विचारों की तात्कालिक वास्तविकता बताया। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार दार्शनिकों ने विचारों को स्वतंत्र अस्तित्व दे दिया है, उसी प्रकार वे भाषा को भी एक स्वतंत्र क्षेत्र बनाने को बाध्य हैं।

मार्क्सवाद पदार्थ, चेतना और भाषा के सम्बंधों को इस प्रकार देखता है। वह स्पष्टतया भाषा के प्रादुर्भाव को श्रम की प्रक्रिया के दौरान सामाजिक आदान-प्रदान की आवश्यकता के तौर पर देखता है। आगे जब भाववादी दार्शनिकों ने विचार को पदार्थ से स्वतंत्र एक अलग श्रेणी के तौर पर परिभाषित किया तो वे भाषा को भी पदार्थ से अलग एक स्वतंत्र क्षेत्र देने के लिये मजबूर हो गये। उत्तर-आधुनिकतावादियों ने उन्हीं भाववादी दार्शनिकों की तर्ज पर भाषा को एक स्वतंत्र क्षेत्र तो दिया ही, वे इससे भी आगे जाकर भाषा को सर्वशक्तिशाली बना देते हैं। जब वे कहते हैं कि वास्तविकता वह है जिसे भाषा निर्मित करती है तब वे वास्तविकता को, जो मनुष्य की चेतना से स्वतंत्र विद्यमान है, स्वीकार करने से ही इनकार करते हैं। इस तरीके से वे भाषा को ही, जो वास्तविक जगत और उसके क्रियाकलापों तथा समाज व उसके क्रियाकलापों तथा प्रक्रियाओं को संप्रेषित करने के माध्यम को ही, वास्तविकता का स्थान दे देते हैं। यह पदार्थ, चेतना और भाषा के रिश्तों को उलट करके देखना है।

देरिदा का 'विखण्डन' (Deconstruction) का सिद्धान्त यही करता है। देरिदा ने विखण्डनवादी रणनीति का चित्रण इस प्रकार किया है : विपरीत को खोजो, कम सुविधाप्राप्त पक्ष की ओर जाओ, कम सुविधाप्राप्त पक्ष को सुदृढ़ करो और भेद को चिह्नित करने के लिये कम सुविधाप्राप्त पक्ष के भेद को हाशिया, निशान इत्यादि नाम दो। इस तरीके से पाठ को समझा जा सकता है। किसी पाठ के इस विखण्डन की प्रक्रिया द्वारा एक या कई विरोधी पक्ष खड़े किये जा सकते हैं। इस पाठ के विखण्डन से न सिर्फ विरोधी पक्ष खड़े किये जा सकते हैं बल्कि इसके जरिये जो पाठ में नहीं मौजूद है, पाठ से बाहर है, उसको भी निर्मित किया जा सकता है। इस प्रकार विखण्डन के तरीके से पाठ के विविध अर्थ लगाये जा सकते हैं। और वे अर्थ अलग-अलग हो सकते हैं। यह वास्तविकता का निर्माण है। देरिदा की भारी-भरकम शब्दाडम्बर के जाल में वास्तविकतायें अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो देती हैं और वे पाठ के विखण्डन में निर्मित-पुनः निर्मित होती रहती हैं। वे इन पाठों की भौतिक जमीन को वस्तुगत जगत से अलग कर देते हैं हालांकि वे इन पाठों में जिस चीज का विखण्डन कर रहे होते हैं वह इसी वस्तुगत जगत की प्रक्रियायें या परिघटनायें होती हैं। लेकिन उनके बारे में इनकी मौजूदगी से अलग करके, वे इन्हें आपस के अंतर्सम्बंधों और क्रियाकलापों से अलग करके, वे पाठों को ऐसा स्वतंत्र क्षेत्र देते हैं जिनके विखण्डन से वास्तविकताओं का निर्माण होता है। हालांकि उनके पाठों के विखण्डन में विरोधी पक्ष विद्रोही भी हो सकता है लेकिन वे इस विद्रोह को भाषायी स्तर तक ही कायम रखते हैं। इसलिये वे कहते हैं कि वे मुक्ति जैसे शब्दों को इस्तेमाल करने से हिचकिचाते हैं। भाषा उनके लिए अन्तिम जेलघर हो जाती है। वे पाठों का विखण्डन करके उसके एकदम भिन्न-भिन्न अर्थ निकाल सकते हैं और बाद में उसके अलग अर्थ निर्मित करते हैं। इसके लिये देरिदा विभिन्न के लिये दो शब्द प्रयोग में लाते हैं (Different) और (Diffarent) को वे काल और दिक् से अलग कर देते हैं। जबकि काल और दिक् से अलग कोई वास्तविकता नहीं हो सकती।

उत्तर-आधुनिकतावादी भले ही यह दावा करते हों कि वे विचारधारा, संघर्ष और अंतरविरोधों को समझते हैं, लेकिन वे पुराने भाववादियों से एक कदम और आगे जाकर न सिर्फ भाषा का अमूर्तिकरण करते हैं बल्कि वस्तुतः समाज को ही भाषायी प्रवर्गों की व्यवस्था में रूपान्तरित कर देते हैं। जब वे भाषा को अमूर्त व्याकरण के प्रवर्गों की व्यवस्था में ही देखते हैं न कि वास्तविक जीवन के संघर्षों, तनावों और अंतरविरोधों को व्यक्त करने के माध्यम के तौर पर, तो वे भाषा को ही सर्वशक्तिशाली, नियामक शक्ति के तौर पर तबदील कर देते हैं। यह और कुछ नहीं, भाववाद ही है।

इस भाववाद से वास्तविक दुनिया या जीवन या समाज व्यवस्था को सही अर्थों में नहीं समझा जा सकता है।

## अनैतिहासिक दृष्टिकोण

उत्तर-आधुनिकतावादियों का विश्व को देखने का नजरिया अनैतिहासिक है। वे अब तक के इतिहास से प्राप्त ज्ञान को खारिज करते हैं और यह कहते हैं कि अठारहवीं सदी के प्रबोधन काल और उसके बाद के सभी महाख्यान (grand narrative) आज की दुनिया की सही व्याख्या नहीं करते। प्रबोधन परियोजनाओं को जो सामान्यतया मानव मुक्ति की ओर लक्षित थीं, जो न्याय, समानता के लक्ष्य को निर्देशित थीं, उन सब को यह यूटोपिया कह कर खारिज करता है और इनका कहना है कि न तो सामान्यतः मानव मुक्ति की परियोजनायें और न ही विशेष तौर पर पूंजीवाद के विरुद्ध मानवता की मुक्ति

का संघर्ष अब सम्भव रह गया है। इनके अनुसार मार्क्सवाद का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त पुराना पड़ गया है, कि आज के विश्व की ऐतिहासिक-भौतिकवाद के दृष्टिकोण से व्याख्या नहीं की जा सकती। वे इसे सरलरेखीय विचार कहते हैं। ये वर्गों के अस्तित्व और समाज में दुश्मनाना वर्ग हितों की मौजूदगी को खारिज करते हैं। अतः वे इनके बीच टकराव को भी देखने से इंकार करते हैं। बाउड्रीलार्ड कहते हैं कि आधुनिक युग पूंजीवाद और पूंजीपति वर्ग का युग था, जिसमें पूंजी द्वारा मजदूरों का शोषण होता था और वे विद्रोह कि लिए क्रान्तिकारी शक्ति बनते थे। इसके बाद वे राजनीतिक अर्थशास्त्र के अंत की ओर फलस्वरूप मार्क्सवादी समस्या की तथा आधुनिकता के अंत की घोषणा करते हैं। वे कहते हैं:— “श्रम का अंत। उत्पादन का अंत। राजनीतिक अर्थशास्त्र का अंत। वक्ता, लेखक, श्रोता या पाठक की (signifier/signified) द्वन्द्वात्मकता का अंत, जो ज्ञान और अर्थ के भण्डार को सुगम बनाता है जो संचित विमर्श का सरलरेखीय वाक्य-विन्यास है। और इसी के साथ ही, विनिमय मूल्य/उपयोग मूल्य की द्वन्द्वात्मकता का अंत जो एकमात्र संचय और सामाजिक उत्पादन को सम्भव बनाती है। विमर्श के सरलरेखीय आयाम का अंत। माल के सरलरेखीय आयाम का अंत। प्रतीक के क्लासिकीय युग का अंत। उत्पादन के युग का अंत।” (बाउड्रीलार्ड, 'प्रतीकात्मक विनियम और मृत्यु')

इतने सारे “अंत” से वे इतिहास से, अपने को अलग कर लेते हैं। इसके बाद वे घोषणा करते हैं कि हम अनुरूपण (simulation) के नए युग में हैं (जहां सूचना, प्रोसेसिंग, संचार, ज्ञान उद्योग जैसे सामाजिक पुनः उत्पादन समाज को संगठित करने के सिद्धान्त हो गये हैं। अब परम्परागत मालों व सेवाओं का उत्पादन समाज को संगठित करने का सिद्धान्त नहीं रह गया है।) उनके अनुसार इस युग में श्रम अब उत्पादक शक्ति नहीं रह गया है बल्कि यह खुद कई प्रतीकों में एक है। वे कहते हैं कि राजनीतिक-अर्थशास्त्र, अब सामाजिक निर्धारक नहीं रह गया है। या यहां तक कि संरचनागत “वास्तविकता” की नींव नहीं रह गया है जिससे कि दूसरी परिघटनाओं को समझा या व्याख्या की जा सके। इसके बजाय हम अनुरूपण की अतिवास्तविकता (hyperreality) में रहते हैं जहां समकालीन समाजों में उत्पादन और वर्ग टकरावों के तर्क के स्थान पर बिम्बों, दृश्यों और प्रतीकों के खेल ने ले लिया है।

बाउड्रीलार्ड या उनके जैसे उत्तर-आधुनिकतावादी “उत्पादन का अंत” करके जिस कल्पनालोक में रहते हैं, वहां तो सिर्फ कम्प्यूटर में अनुरूपण के जरिए ही भोजन किया जा सकता है और जीवन की अन्य आवश्यकतायें पूरी की जा सकती हैं। इन सारे अंतों में कहीं पर पूंजीपति वर्ग का अंत नहीं दिखाई पड़ता। (अ) भूतपूर्व मार्क्सवादी बाउड्रीलार्ड को न तो अपने देश में (फ्रांस में) मजदूरों व और मेहनतकशों के संघर्ष (जो निश्चित ही वर्ग संघर्ष थे) दिखाई पड़ते हैं और न ही वहां के पूंजीवादी राज्य द्वारा अधिकाधिक अनुदारवाद की ओर जाना दिखाई पड़ता है। वे सिर्फ अतिवास्तविकता (hyperreality) में रहते हैं।

ल्योतार जब उत्तर-आधुनिकता की चर्चा करते हैं तो उसकी सबसे सरलतम शब्दों में परिभाषा यह देते हैं : “यह सभी तरह के महाख्यानों को सदेह से देखता है।” महाख्यानों के स्थान पर वे छोटे-छोटे आख्यानों की वकालत करते हैं।

ये महाख्यान क्या हैं? वे इनकी सार्वभौमिकता को क्यों रद्द करते हैं? क्योंकि ये प्रकृति और समाज की व्याख्या समग्रता में करते थे और एक बेहतर भविष्य की रूपरेखा पेश करते थे। इनसे प्रबोधन परियोजनाओं को बल मिलता था। सार्वभौमिक सच्चाई की ओर उन्मुख इनकी व्याख्यायें मानवता के संघर्ष को आगे बढ़ाती थीं। फ्रांसीसी क्रान्ति की आधारभूमि इन्हीं महाख्यानों से तैयार हुई थी। मार्क्सवाद भी अपने पूर्ववर्ती इन महाख्यानों और सार्वभौमिकता को समझकर और उसे तार्किक परिणति तक पहुंचा कर विकसित हुआ। लेकिन उत्तर-आधुनिकतावादी इन सार्वभौमिक महाख्यानों से सबक लेने के बजाय उन्हें रद्द करते हैं। क्योंकि इनके सामने मानव मुक्ति का कोई आदर्श नहीं है। ये व्यक्ति के भीतर की समस्याओं को समझना चाहते हैं। ये व्यक्तियों में, अलग-अलग सभाओं में, संस्कृतियों में भिन्नता पर जोर देते हैं।

जबकि मार्क्सवाद ने शुरू से ही सार्वभौमिकता का पक्ष लिया है। मार्क्स के पहले के सार्वभौमिकतावादी जहां सामान्य मानव मुक्ति की बात करते थे, वहीं मार्क्स ने सामान्य मानव के स्थान पर ऐतिहासिक तौर पर स्थापित एक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पूंजीवाद के मानव की बात की। जहां हेगेल ने राज्य को विभिन्न हितों के बीच समझौता कराने की बात की और इससे निष्कर्ष निकाला कि राज्य सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व करता है, वहीं मार्क्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि राज्य अन्य वर्गों के विरुद्ध कुछ निश्चित वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करता है। हेगेल ने जहां नौकरशाही की एक सार्वभौमिक वर्ग के तौर पर अवधारणा रखी, वहीं मार्क्स ने राज्य कार्यपालिका को समूचे पूंजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी के सिवाय और कुछ नहीं कहा। हेगेल ने जहां राज्य को समाज के सभी वर्गों के बीच समझौता कराने वाले मध्यस्थ होने की बात की वहीं मार्क्स ने हेगेल की बात को आगे बढ़ाते हुए कहा कि आधुनिक राज्य महज पूंजीपति वर्ग के प्रतिस्पर्धी गुटों और समूहों के बीच मध्यस्थता करता है। मार्क्स ने जहां इतिहास से यह निष्कर्ष निकाला कि अब तक का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है और यह वर्ग-संघर्ष अवश्यम्भावी तौर पर वर्गों के उन्मूलन की ओर ले जायेगा। यह वर्ग संघर्ष आधुनिक समाज के

दो छोर के वर्गों—पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग—के बीच होगा। मजदूर वर्ग अपने को एक वर्ग के तौर पर संगठित करके पहले खुद अपने देश के पूंजीपति वर्ग को सत्ताच्युत करके एक राष्ट्र के तौर पर अपने को कायम करेगा तथा समाज के सभी वर्गों को मुक्ति दिलाकर ही अपने को मुक्त करेगा। यहां हम देखते हैं कि मार्क्स समस्या का समाधान सार्वभौमिक कर रहे हैं और उसे ठोस सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भों में पेश कर रहे हैं। मार्क्स और एंगेल्स अपने पूर्ववर्ती प्रबोधन काल की सारी दार्शनिक, वैज्ञानिक, और राजनीतिक-अर्थशास्त्र और समाजवादी सिद्धान्तों की समझदारी का समाहार करते हुए अपने ऐतिहासिक-भौतिकवादी दृष्टिकोण, “महाख्यान” को प्रस्तुत करते हैं।

जहां कांट ने यह कहा था कि उदार पूंजीवादी विश्व तर्क बुद्धि पर आधारित है वहीं मार्क्स ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि यह तर्क पर नहीं स्वार्थ पर आधारित है। कांट ने जहां व्यापार को अंतर्राष्ट्रीय शांति के दूत के तौर पर चित्रित किया वहीं मार्क्स की दृष्टि से यह वैश्विक गुलामी का हथियार था। प्रबोधन की इस अवधारणा कि प्रगति उद्देश्य है, इसके विरुद्ध मार्क्स ने कहा कि प्रगति और विकास निरंतर वर्ग संघर्ष को बढ़ाते हैं की अवधारणा रखी तथा कम्युनिस्ट घोषणापत्र के शब्दों में “विनाश का सार्वभौमिक युद्ध” की संज्ञा दी।

मार्क्स ने जहां पूंजीवाद के भीतर इस दोहरी गति की व्याख्या की कि एक तरफ तो यह बाजार का सार्वभौमिकरण कर रहा है और दूसरी तरफ राष्ट्र-राज्य के रूप में संगठित इकाइयों के तौर पर मानव समूहों को बांट रहा है। न सिर्फ राष्ट्र-राज्य के समूहों के रूप में बांट रहा है बल्कि खुद राष्ट्र-राज्य के भीतर सम्पत्तिवानों और सम्पत्तिहीनों में बांट रहा है। मार्क्स ने पूंजीवादी दार्शनिकों के सार्वभौमिकरण का जवाब और बड़े व्यापक सार्वभौमिकरण से दिया जिसमें “सामाजिक मानवता” को बांटने के अंतरविरोध को हल किया जा सके। और यह आह्वान था कि मजदूर खुद को शासक वर्ग के तौर पर रंगमंच पर लाये। इस तरह जब सम्पत्तिहरण करने वालों की सम्पत्ति का हरण हो जायेगा तब सही मायनों में सामाजिक मानवता की मुक्ति होगी।

उत्तर-आधुनिकवादी पूंजीवादी युग की बाजार की सार्वभौमिकता को तो समाप्त नहीं करना चाहते, इसके लिए उनके विमर्श में कोई आख्यान नहीं है। बल्कि उनके विमर्श में तो इसके लिए खुली छूट है। लेकिन वे “सामाजिक मानवता” को बांटने की और ज्यादा हिमायत कर रहे हैं। जब वे यह कहते हैं कि विश्व के लोग अलग-अलग पहचानों में रहते हैं तो उनका आशय यह होता है कि अब वर्ग-संघर्ष नहीं बल्कि राष्ट्रीयता, नस्ल, लिंग, प्रजाति, संस्कृति इत्यादि की अस्मिता के लिए संघर्ष प्रमुख हो गया है। वे “सामाजिक मानवता” को और ज्यादा छोटे दायरे में बांटने की दलील देते हैं। जहां प्रबोधन काल और मार्क्स के जमाने से पूंजीवाद ने और ज्यादा व्यापक सार्वभौमिक चरित्र ग्रहण कर लिया है वहीं उसने साम्राज्यवाद के युग में “सामाजिक मानवता” को और ज्यादा विभक्त किया है। इस विभाजन को उत्तर-आधुनिकतावादी और ज्यादा टुकड़ों में बांटने की हिमायत करते हुए पूंजीवाद के सार्वभौमिकरण के विरुद्ध, कुछ नहीं कहते। उनके लिए यह सार्वभौमिकरण अनुरूपीकरण के अतिवास्तविक जगत में रहना है जहां डिज़नीलैंड हैं, आमोद-प्रमोद के पार्क हैं और उपभोग ही उपभोग है। निश्चित ही, उनका यह दोहरापन आज के युग के पूंजीवाद, साम्राज्यवाद के लिये एक सार्थक तर्क का काम करता है। समकालीन सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पर चोट करने की तरफ कोई विमर्श प्रस्तुत नहीं करता।

मार्क्सवाद द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक विकास के नियमों का खण्डन करने का दावा तो यह करता है और कहता है कि समकालीन समाज में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का प्रवर्ग अर्थहीन हो गया है। लेकिन इसे सिद्ध करना तो दूर की बात है, वह इसकी जांच-पड़ताल भी नहीं करता कि मौजूदा साम्राज्यवादी दौर में उत्पादक शक्तियों के विकास के रास्ते में खुद पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध अवरोध बने हुए हैं। फ्रेड जेक्सन जब उत्तर-आधुनिकता के समय की व्याख्या करते हैं तो वह कहते हैं कि यह परवर्ती पूंजीवाद का सांस्कृतिक तर्क है। परवर्ती पूंजीवाद को वे पूंजीवाद का नया बहुराष्ट्रीय, “सूचनात्मक” और “उपभोक्तावादी” चरण बताते हैं और कहते हैं कि उत्तर-आधुनिकता इस चरण से मेल खाती है। डेविड हार्वे बताते हैं कि वे उत्तर-आधुनिकता को फोर्डवाद से लचीले संघर्ष संक्रमण में देखते हैं। कुछ ऐसे ही विचार विघटित पूंजीवाद (disorganised capitalism) के सिद्धान्तों में पेश किये जाते हैं। जिनके हिसाब से उत्तर-आधुनिकता पूंजीवाद के ऐसे चरण से मेल खाती है जहां मानवीकृत (standardized) मालों के बड़े पैमाने के उत्पादन और उससे जुड़ी हुई श्रम के रूपों का स्थान लचीलेपन ने, “श्रम विरल उत्पादन” (lean production)] “टीम अवधारणा” और “समय से उत्पादन” (just-in-time) जैसे उत्पादन के रूपों ने ले लिया है, जहां दूर-दराज के विशिष्ट बाजारों के लिए मालों का विविधीकरण हो गया है, जहां श्रम-शक्ति लचीली है, पूंजी गतिशील है, इत्यादि और इन सबको नयी सूचना प्रौद्योगिकी ने सम्भव बनाया है। कुछ “उत्तर-आधुनिक मार्क्सवाद” की अवधारणाओं के अनुसार, विश्व अर्थव्यवस्था के बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के अंतर्गत होने वाले वैश्वीकरण ने राष्ट्र-राज्य की ताकत को अत्यंत कमजोर कर दिया है और पुराने साम्राज्यवादी प्रभुत्व को समाप्त कर दिया है तथा समूचे विश्व में वर्ग टकरावों को खतम कर दिया है। इसके अनुसार राजनीतिक कार्यवाई के केन्द्र के तौर पर

राष्ट्र और राष्ट्र-राज्य बेकार हो चुके हैं तथा राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक-विश्लेषण की इकाई के तौर पर अप्रासंगिक हो चुके हैं क्योंकि इनको वैश्वीकृत राष्ट्र-पारीय अर्थव्यवस्था द्वारा हटा दिया गया है। इस धारणा के मुताबिक, "परिधि के सार्वभौमिकरण" ने विश्व अर्थव्यवस्था के केन्द्र की साम्राज्यवादी शक्तियों और इनके प्रभुत्व में रहने वाली परिधि की समाज व्यवस्थाओं के बीच सीमायें समाप्त हो गयी हैं। इससे आगे वे कहते हैं कि बहुराष्ट्रीय निगमों के वैश्विक प्रभुत्व ने समूची दुनिया के मजदूर वर्गों को बांट रखा है तथा छिन्न-भिन्न कर दिया है और इसके परिणामस्वरूप विश्व अर्थव्यवस्था के केन्द्र से पूंजी और श्रम के बीच तनाव समाप्त हो गया है।

उत्तर-आधुनिक या उत्तर-आधुनिक मार्क्सवादी इस तरह से आज के पूंजीवाद को चित्रित करते हैं। वे लचीलेपन या श्रम विरल उत्पादन को विशालकाय बहुराष्ट्रीय निगमों की फैलती और बढ़ती ताकत के तौर पर नहीं देखते, जो देखते भी हैं वे इसे राष्ट्र-राज्य के विरोधी के तौर पर देखते हैं। इनकी समझदारी से राष्ट्र-राज्य इन बहुराष्ट्रीय निगमों के सामने कमजोर हो गये है। वे यह नहीं देखते कि ये बहुराष्ट्रीय निगम भी अपनी राष्ट्र-राज्य की पहचान और उसकी ताकत के साथ समूची दुनिया में अपना जाल फैलाते हैं।

परवर्ती पूंजीवाद के इन आख्यानों में जहां पूंजी के सार्वभौमिकरण की चर्चा की गयी है वहीं पूंजी के इस "महाख्यान" के युग की समाप्ति कैसे होगी, इसकी चर्चा नहीं की गयी है। मार्क्सवाद का खण्डन करने के लिये उन्हें इस चरण की वे विशेषतायें बतानी होंगी जिनसे यह स्पष्ट होता हो कि मौजूदा समाज में दुश्मनाना वर्गों का अस्तित्व नहीं रह गया है। इसे सिद्ध करने के लिये यह पर्याप्त नहीं है कि आज समूची दुनिया में यदि वर्ग संघर्ष कमजोर हालात में है, मजदूर वर्ग विभाजित है और टुकड़ों-टुकड़ों में बंटा हुआ है, इसलिए वर्ग-संघर्ष की राजनीति की गुंजाइश नहीं है। यदि किसी खास समय में पूंजीपति वर्ग की ताकत बहुत ज्यादा दिखाई पड़ती है और मजदूर वर्ग कमजोर तथा असंगठित है तो इसका अर्थ यह कतई नहीं हो सकता के वर्ग-अंतरविरोध समाप्त हो गये हैं। और कि आज का असंगठित मजदूर वर्ग भविष्य में संगठित नहीं होगा। चूंकि उत्तर-आधुनिकतावादी कार्य-कारण सम्बन्ध देखने के पक्षधर नहीं है, इसलिए वे आभास को ही वास्तविकता समझ लेते हैं या समझाने की कोशिश करते हैं।

पूंजीवादी राज्य इनके आख्यान से बाहर हैं। वे पूंजीवादी राज्य को उखाड़ फेंकने और उसके स्थान पर कोई और बेहतर राज्य लाने का कोई विमर्श नहीं करते। उनके विमर्श में सत्ता है, लेकिन सत्ता का कोई केन्द्र नहीं है। वह सब जगह बिखरी हुई है। वह ऐसे निराकार ब्रह्म की तरह है जो सब जगह और हर कहीं है। चूंकि इनके अनुसार, सत्ता का कोई केन्द्र नहीं है, इसलिए इसके विरुद्ध कोई केन्द्रीय संघर्ष भी नहीं देखा जाता। तब बचता क्या है? "विमर्श" के जरिये अपनी संघर्षशील भड़ास निकालने का एक मात्र रास्ता बचता है। उनके अपने आख्यानों में न तो राजसत्ता के पैदा होने के कारणों का जिक्र है और न ही उसके आज के दैत्याकार स्वरूप के ग्रहण करने तथा अधिकाधिक केन्द्रित हो जाने का कोई विमर्श है। यह इसलिए कि इनको इतिहास भी गढ़ा गया एक विमर्श लगता है। ये इतिहास को आगे बढ़ने के एक प्रेरणास्रोत मानने के बजाय उसे एक गढ़ी हुई किवदंती जैसी ही कोई चीज समझते हैं। जिसे हर कोई अपने हिसाब से अपनी भाषा से गढ़ता है। इसलिए इनके विमर्श में राजसत्ता, वर्ग और वर्ग-संघर्ष के लिए कोई स्थान नहीं है। किसी समाज व्यवस्था को समझने का इनके पास कोई उपकरण नहीं है। क्यों इतिहास में एक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से दूसरी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में संक्रमण होता है और उस खास दूसरी में ही क्यों होता है, अन्य में क्यों नहीं? इन सवालों से उनका कोई सरोकार नहीं है। क्योंकि जैसे ही वे इन सरोकारों से गुजरेंगे वैसे ही उन्हें भी "महाख्यानों" की तरफ जाना होगा। अभी तक के दार्शनिकों और राजनीतिज्ञों ने तरह-तरह से समूचे विश्व व ब्रह्माण्ड को समझने की कोशिशें की हैं, और इसी विकासक्रम में मार्क्सवाद ने सामाजिक विकास के वस्तुगत नियमों की खोज की। वस्तुगत नियम, इस अर्थ में कि वे मानव इच्छा से स्वतंत्र कार्यरत रहते हैं।

मार्क्स का कहना है कि "अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्धों में बंधते हैं, जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की इन भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का पूर्ण योग ही समाज का आर्थिक ढांचा है—वह असली बुनियाद है, जिस पर कानून और राजनीति का ऊपरी ढांचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उल्टे उनके सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है। अपने विकास की एक खास मंजिल पर पहुंच कर समाज की भौतिक उत्पादक शक्तियां तत्कालीन उत्पादन सम्बन्धों से—या उसी चीज को कानूनी शब्दावली में यों कहा जा सकता है—उन सम्पत्ति सम्बन्धों से टकराती हैं, जिनके अंतर्गत वे उस समय तक काम करती होती हैं। ये सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों के विकास के अनुरूप न रहकर उनके लिये बेड़ियां बन जाते

हैं। तब सामाजिक क्रांति का युग शुरू होता है। आर्थिक बुनियाद के बदलने के साथ समस्त वृहदाकार ऊपरी ढांचा भी कमोवेश तेजी से बदल जाता है।”

बाउड्रीलार्ड जब “श्रम के अंत और उत्पादन के अंत” की घोषणा करते हैं तो ऐसा लगता है कि वे किसी समाज-व्यवस्था में नहीं रह रहे हैं बल्कि जिसमें वे रहते हैं वह अलग-अलग व्यक्तियों की इकाई है। इसलिए इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि “सामाजिकता की मृत्यु” हो गयी है। इस तरीके से बाउड्रीलार्ड न सिर्फ इतिहास से निकाले गए सबकों को खारिज करते हैं बल्कि खुद मार्क्सवादी शब्दावली को इस्तेमाल करते हुए आज के यथार्थ को समझने से भी इंकार करते हैं। आज के यथार्थ की प्रमुख विशेषतायें क्या हैं? हम साम्राज्यवाद के युग में जी रहे हैं। इस साम्राज्यवादी युग के वर्तमान चरण में जहां उपनिवेश समाप्त हो गये हैं और पूर्व उपनिवेशों में देशी पूंजीपति वर्ग शासन में आ गये हैं और इन पूर्व उपनिवेशों की अर्थव्यवस्थाओं का विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से अधिकाधिक एकीकरण होता जा रहा है, ऐसी स्थिति में साम्राज्यवाद अपने आधिपत्य और शोषण के नये तरीके निकालने के लिये मजबूर होकर पीछे हटा है। साम्राज्यवाद ऐतिहासिक तौर पर पीछे हटा है। और साम्राज्यवाद के युग के भीतर ही दुनिया एक नये चरण में आर्थिक नव- उपनिवेशवाद के चरण में प्रवेश कर गयी है। हालांकि साम्राज्यवाद के पीछे हटते जाने की प्रक्रिया उस समय थम गयी जब दूसरा साम्राज्यवादी प्रतिद्वन्द्वी सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद और उसके प्रभाव में रहने वाली पूर्वी यूरोप की सत्तायें बिखर गयीं, और वहां पर फिर से पश्चिमी किस्म के निजी पूंजीवाद के स्थापित होने का रास्ता अचानक खुल गया। इस प्रक्रिया से दुनिया के एक समय में उपनिवेश रहे देशों को साम्राज्यवाद के साथ सौदेबाजी करने की ताकत में गिरावट आयी और आज समूची दुनिया में पश्चिमी साम्राज्यवादी ताकतों की विशेष तौर पर अमरीकी साम्राज्यवाद की भूमिका, धौंसपट्टी, और बंदर-घुड़की अत्यधिक बढ़ गयी है। इसी के साथ ही, पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों का संकट भी थमने का नाम नहीं ले रहा है। वे निरंतर मंदी के शिकार हैं। वे मंदी से निपटने के जो भी तरीके अपनाते हैं, वे और बड़ी मंदी की ओर ले जाते हैं। खुद साम्राज्यवादी विश्व अपनी व्यापक जन-विरोधी नीतियों से अपने को लगातार संकट में घिरा पा रहा है। इसी प्रकार, दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में गरीबी और अमीरी के बीच खाई लगातार चौड़ी होती जा रही है। चारों तरफ लोगों की जिन्दगी का स्तर गिरता जा रहा है। बेरोजगारी बढ़ रही है। जीवनयापन की स्थितियां कठिन होती जा रहीं हैं। और जगह-जगह क्रांतिकारी विकल्प के अभाव में लोगों के गुस्से को दूसरे मुहाने मिल रहे हैं, विभिन्न तरह के नव-फासीवादी गिरोहों में, कट्टरपंथी ताकतों के उभार में तथा निराशा में। लोगों की बदहाली से उपजे गुस्से का इस्तेमाल विभिन्न तरह की प्रतिक्रियावादी ताकतें विशेष तौर पर, साम्राज्यवाद कर रहा है।

लेकिन उत्तर-आधुनिकतावादियों को दुनिया की यह तस्वीर नहीं दिखाई दे रही है। इसलिए उनको उत्पादन पर जोर दिखाई देने के बजाय उपभोग पर जोर दिखाई दे रहा है। चूंकि दुनिया की इस कठोर हकीकत से वे मुंह फेर रहे हैं, इसलिए इनके विमर्श में आज की दुनिया को बदलने की कोई परियोजना नहीं है। इस परियोजनाविहीनता ने उन्हें चाहे-अनचाहे साम्राज्यवाद और स्थापित व्यवस्था का पैरोकार बना दिया है। और वे इस परियोजनाविहीनता को सैद्धान्तिक जामा पहनाकर उत्तर-आधुनिकतावाद या उत्तर-संरचनावाद के दर्शन व राजनीति को जन्म दे रहे हैं।

## सार्वभौमिकता बनाम विशिष्टता

उत्तर-आधुनिकतावादी किसी भी तरह की सार्वभौमिकता को स्वीकार नहीं करते। उनके दृष्टिकोण से यह एक यूटोपिया है, जिसकी आधुनिकता के जमाने में एक मात्र स्वीकृत मूल्य के तौर पर स्थापित किया गया था। इनके दृष्टिकोण के अनुसार, आधुनिकतावाद में व्यक्ति सार्वभौमिक इच्छा का या इतिहास अथवा प्रकृति के नियमों के लिए एक वस्तु था। व्यक्ति इनके बोझ के नीचे दबा हुआ था। उत्तर-आधुनिकतावादी सार्वभौमिक सिद्धान्तों को दमनकारी और यहां तक कि सर्वसत्तावादी समझते हैं। सार्वभौमिक सिद्धान्त जो सामान्यीकरण पर आधारित होते हैं, उनकी सर्वसत्तावाद से तुलना करना ही हास्यास्पद है। सार्वभौमिक सिद्धान्त मुक्ति दिलाने वाले भी हो सकते हैं और सर्वसत्तावादी भी। इसी प्रकार, विशिष्टता या छोटे पैमाने के वर्गीकरण भी सर्वसत्तावादी हो सकते हैं। सर्वसत्तावाद को आकार या भूगोल के आधार पर नहीं तय किया जा सकता। सर्वसत्तावाद छोटी से छोटी परिवारिक इकाई पर भी लागू हो सकता है।

क्योंकि सार्वभौमिकता को वे सर्वसत्तावादी समझते हैं और सार्वभौमिक सिद्धान्तों को वे अस्वीकार करते हैं, इसलिए स्वाभाविक तौर पर उनका जोर विशिष्टता या अलग-अलग पहचानों की ओर जाता है। वे विशिष्ट, विषय तथा बदलते भाषायी खेलों को ही आज की दुनिया का मुख्य लक्षण देखते हैं। उनका जोर विभेदों पर है। वे लिंग, नस्ल, प्रजाति और अन्य विशिष्ट तथा अलग-अलग उत्पीड़नों व संघर्षों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। वे मनुष्य के 'स्व' को तरल तथा बिखरा हुआ "विकेन्द्रित विषय" बताकर कहते हैं कि चूंकि ये पहचानें भी बदलती रहती हैं, अनिश्चित हैं, और कमजोर हैं, इसलिए इनके उत्पीड़न के विरुद्ध कोई सामान्य समझदारी और चेतना विकसित करने की सम्भावना भी नहीं है।

उत्तर-आधुनिकतावादी मार्क्सवाद पर यह आरोप लगाते हैं कि वह सार्वभौमिक सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण वर्ग की पहचान के अलावा अन्य किसी पहचान को अपनी विश्लेषण पद्धति में स्वीकार नहीं करता है। यह आरोप भी निराधार है। मार्क्सवाद न सिर्फ इन विशिष्ट पहचानों को स्वीकार करता है बल्कि इनको सही परिप्रेक्ष्य में रखता है। वह सामाजिक-आर्थिक विश्लेषण में सबसे निर्णायक प्रवर्ग "वर्ग" को रखता है और अन्य पहचानों की विशिष्टता को ध्यान में रखकर उनकी मुक्ति की लड़ाई को वर्ग दृष्टि से लड़ने की बात करता है। उदाहरण के लिए नारी मुक्ति के सवाल को, मार्क्सवाद पितृसत्ता तथा पुरुष आधिपत्य के विरुद्ध संघर्ष को, पूंजीवाद के विरुद्ध व्यापक संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखता है। मार्क्सवाद की यह समझ है कि जब तक पूंजीवाद है तब तक पुरुष और नारी की समानता नहीं आ सकती। यदि कोई इस परिप्रेक्ष्य को त्याग देता है तो वह नारी मुक्ति के सवाल का समाधान नहीं पा सकता। उत्तर-आधुनिकतावादी और पूंजीवादी-नारीवादी आन्दोलनों की कई धारयें मार्क्सवाद के इस परिप्रेक्ष्य के विरोध में खड़ी हो जाती हैं।

इसी प्रकार, नस्ल और प्रजाति जैसी विशिष्ट पहचानों के बारे में भी मार्क्सवाद और उत्तर-आधुनिकतावादियों के बीच परिप्रेक्ष्य का जमीन आसमान का अंतर मौजूद है। नस्ल और प्रजाति की विशिष्ट पहचानों के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध व्यापक संघर्ष हुए हैं और हो रहे हैं। लेकिन ये संघर्ष किसी भी तरह उस खास नस्ल को उत्पीड़न से मुक्ति नहीं दिला सकते। इसका कारण बहुत स्पष्ट है कि हर नस्ल और हर जाति खुद अपने अन्दर वर्गों में बंटी हुई है। यदि किसी नस्ल या जाति का दूसरी नस्ल या जाति के उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष खुद अपने भीतर के उत्पीड़कों के विरुद्ध संघर्ष के साथ नहीं जुड़ता, तो उसको जिस हद तक बाहरी उत्पीड़न से मुक्ति मिलती है, उस हद तक तो यह सकारात्मक बात होती है लेकिन जैसे ही उसके अपने ही नस्ल या जाति के लोग उत्पीड़क के तौर पर सामने आते हैं, वैसे ही उसे दूसरे उत्पीड़कों का भी शिकार होना पड़ता है। यही कारण है कि दुनिया भर के तमाम साम्राज्यवादी नस्लों और प्रजातियों के संघर्ष को अपनी व्यवस्था में आत्मसात कर लेते हैं। क्योंकि ये संघर्ष खुद अपने भीतर के उत्पीड़कों के विरुद्ध केन्द्रित नहीं हैं। अतः इनका विश्व पूंजीवादी व्यवस्था से कोई बुनियादी टकराव नहीं होता। उत्तर आधुनिकतावादी इन निजी पहचानों के संघर्ष को बिना सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को बदले, अपने आख्यान में लेते हैं, इसलिए वे इनको मुक्ति भी नहीं दिला सकते। वैसे भी, उनकी मुक्ति इनका लक्ष्य नहीं है बल्कि ये तो इन पहचानों की विशिष्टता पर विमर्श करते हैं। इस विमर्श में वे भाषा के खेल को खेलते हैं।

## बहुलवाद

विशिष्टता और पहचानों पर जोर देने के साथ ही उत्तर-आधुनिकतावादी बहुलता (Plurality) पर जोर देते हैं। उनका कहना है कि उत्तर-आधुनिक विश्व बहुलवादी है। इसमें लोग अलग-अलग तरीकों से रहते हैं, आचरण करते हैं और उनकी जुदा-जुदा संस्कृति है। उनकी दृष्टि में आधुनिकता के जमाने में लोग कोई एक मानवीकृत एकात्मक दृष्टि रखते थे और उसी के मुताबिक दुनिया के दूसरे तरीके से जीने वालों का, उनके जीवन-मूल्यों का मूल्यांकन करते थे। लेकिन उनकी दृष्टि में इस सोच का दिवालियापन सिद्ध हो गया है। वे अब एक ऐसी एकीकृत दुनिया में रहते हैं, जहां संचार-माध्यमों की सुगमता से हम भिन्न-भिन्न संस्कृतियों, जीवन-शैलियों और तौर-तरीकों के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गए हैं। एक-दूसरे के प्रति सीखने, अपनाने की भावना बढ़ती गयी है। इस तरह मानकीकृत दृष्टिकोण के स्थान पर बहुलवादी दुनिया में साथ-साथ रह रहे हैं। इनमें न कोई संस्कृति अच्छी है, और न कोई बुरी। सभी संस्कृतियां, तौर-तरीके और जीवन-शैलियां अपनी जगह सही हैं। यदि कहीं धार्मिक कूपमण्डूकता व्याप्त है तो यह उस समाज के लिए सही है। उत्तर-आधुनिक दुनिया के उत्तर-आधुनिकतावादी इस बहुलवादी दृश्य का आनंद लेते हैं।

चूंकि एकल मानकीकृत कोई विश्व दृष्टिकोण नहीं है, इसलिए कोई बात सच है या नहीं, उत्तर-आधुनिकतावादियों के पास इसको मापने का कोई मापदण्ड भी नहीं है। इसलिए वे ऐसे किसी मापदण्ड को खड़ा करने के ही खिलाफ हैं।

उनका कहना है कि वास्तविकता वही है जो हमें भाषा प्रेषित करती है। चूंकि भाषा सम्प्रेषित करने वाले अलग-अलग तरीके से उसे प्रेषित करते हैं तो उनके लिए यथार्थ भी अलग-अलग होते हैं। इसलिए वे निष्कर्ष निकालते हैं कि वस्तुगत यथार्थ नाम की कोई चीज नहीं होती। सच्चाई, सार्वभौमिक सत्य सिर्फ गढ़े जाते हैं। इनको गढ़ने वाले लोग इस प्रकार, बहुलवाद को जन्म देते हैं।

अगर हम इस सांस्कृतिक-बहुलवाद की राजनीतिक-बहुलवाद से तुलना करें तो हम पायेंगे कि उत्तर-आधुनिकतावादी, साम्राज्यवादियों-पूँजीवादियों के सत्ता तंत्र के हथियार के तौर पर काम करते हैं।

## कला, साहित्य और संस्कृति

संस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्र में वे सिर्फ शैलीगत विशेषताओं पर जोर देते हैं। उनके लिए इतिहास और गल्प सभी शैलीगत विशेषताओं के अलग-अलग आख्यान हैं। दरअसल उत्तर-आधुनिकतावाद को सर्वप्रथम साहित्यालोचना के संदर्भ में इस्तेमाल किया गया था। बाद के दिनों में यह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को समेटता गया है। चूंकि भाषा के माध्यम से लेखक नहीं बोलता बल्कि लेखक के माध्यम से भाषा बोलती है इसलिए व्यक्ति का 'स्व' संस्कृति और इसकी भाषा का माध्यम बन जाता है। इनकी दृष्टि से उत्तर-आधुनिकतावादी लेखक कोई मौलिक विद्वान नहीं है बल्कि भाषा में अपनी पकड़ के चलते वह संस्कृति का मध्यस्थ और शिल्पी है। इस तरह से संस्कृति को एक वर्गेतर धारणा के तौर पर सिर्फ भाषा द्वारा व्यक्त की जाने वाली लेखक की मध्यस्थता के तौर पर चित्रित किया जाता है। उत्तर-आधुनिकतावादी शब्दजालों में पश्चिमी-संस्कृति, अमरीकी-संस्कृति, पूर्वी-संस्कृति, और इससे भी आगे 'उप-संस्कृति' शामिल है। यहां यह ध्यान देने की बात है कि हर संस्कृति में शासक-वर्गीय या शोषक-वर्गीय दृष्टिकोण भी होता है। जो प्रभावशाली होता है और दूसरी तरफ शोषितों, उत्पीड़ितों और मेहनतकशों का दृष्टिकोण होता है जिसका वे अपने ऊपर हो रहे उत्पीड़न व अन्याय के विरुद्ध संघर्ष में औजार के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। तथा अपनी वर्गीय एकजुटता कायम करने में इस्तेमाल करते हैं। हालांकि हर राष्ट्र की अपनी राष्ट्रीय संस्कृति भी होती है। जो उसके विशिष्ट रूपों का सृजन करती है। उत्तर-आधुनिकतावादी संस्कृति के रूपों पर तो जोर देते हैं लेकिन उसकी अंतर्वस्तु को गायब कर देते हैं। इनकी अंतर्वस्तु वर्गीय दृष्टिकोण में निहित होती है। तो फिर बाकी बचता क्या है? रूप, शैली, कोलाज, पैरोडी, आयरनी तथा अतीतग्रस्तता ही बचती है। उत्तर-आधुनिक साहित्य में इन शैलीगत विशेषताओं पर ही ज्यादा जोर दिया जाता है। यह निश्चित तौर पर चाहें जितना भी विद्रोही तेवर लेकर आती हो, महज एक वर्गेतर दृष्टि की आत्म प्रतिबिम्बन करने वाली कृति बनकर रह जाती है। कला के क्षेत्र में भी "उच्च कला" और "भीड़ संस्कृति" (mass culture) के बीच भेद सिर्फ इस बात का किया जाता है कि उच्च कला सिर्फ थोड़े से लोगों को समझ में आने वाली होती है जबकि भीड़-संस्कृति व्यापक आबादी को समझ में आती है और उत्तर-आधुनिकतावादी इन दोनों का मिश्रण तैयार करके इसे बाजार में बेचने के लिए आ जाते हैं। यहां भी ये किसी अंतर्वस्तु को लेकर नहीं आते बल्कि यों कहना ज्यादा सटीक होगा कि ये शासक वर्गीय दृष्टि को जन-समुदाय की कला के तौर पर पेश करने के लिए आते हैं। ये अपने गल्प साहित्य में अचानक दूसरा कथानक डालकर या इतिहास की चर्चा करते हुए अचानक वर्तमान की बात कर, दोनों के घाल-मेल से जो चीज तैयार करते हैं उसे ये भंग करने वाला प्रभाव (rupturing effect) कहते हैं। चित्रकला में ये ज्यादा से ज्यादा कोलाज और मिश्रणों का इस्तेमाल करते हैं।

यह बहुत स्वाभाविक है कि उत्तर-आधुनिकतावादी दर्शन, साहित्य, कला और विमर्श को अमरीकी और पश्चिम के शैक्षणिक संस्थानों में बहुत ज्यादा महत्व दिया जा रहा है। यदि फूको, देरिदा और अन्य उत्तर-आधुनिक व उत्तर-संरचनावादी दार्शनिक स्थापित पूँजीवादी व्यवस्था के लिए कोई वास्तविक खतरा प्रस्तुत नहीं करते बल्कि व्यापक मेहनतकश आबादी को दिग्भ्रमित करने और छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटने का काम करते हैं तो यह शासकों के हित की बात है, वे इसे प्रोत्साहन क्यों नहीं देंगे?

## मूलाधार और अधिरचना

जैसे कि पहले मार्क्स के उद्धरण में कहा गया है कि किसी समाज में अर्थव्यवस्था वह मूलाधार होती है जिस पर राजनीति, संस्कृति, कला, साहित्य, दर्शन और अन्य बौद्धिक उत्पादन का ऊपरी ढाँचा (अधिरचना) खड़ा होता है। जैसी अर्थव्यवस्था होती है, देर-सवेर अधिरचना भी उसी का अनुसरण करती है। मूलाधार आम तौर पर निर्णायक होता है। लेकिन अधिरचना भी विशेष समयों में निर्णायक होती है और मूलाधार को प्रभावित तो हमेशा करती रहती है। यदि अधिरचना मूलाधार के अनुरूप नहीं हुई तो वह नकारात्मक तौर पर प्रभावित करती है यदि अनुरूप हुई तो सकारात्मक तौर पर प्रभावित करती है।

उत्तर-आधुनिकतावादी दार्शनिक अब नया नुस्खा पेश कर रहे हैं। बगैर मूलाधार को बदले हुए वे यह दावा कर रहे हैं कि दुनिया बदल चुकी है और एक नये युग में प्रवेश कर चुकी है। यह नया युग क्या है? इसकी विशिष्टतायें क्या हैं? इसका जवाब देने के लिए वे जो तर्क देते हैं वे हैं कि समय की रफ्तार बहुत तेज हो गयी है और दूरियां सिमट गयीं हैं कि हम सूचना के उच्चतर राजपथ के दौर में प्रवेश कर गये हैं, कि उत्पादन के स्थान पर उपभोग पर जोर ज्यादा हो गया है। इन सारी बातों से क्या निष्कर्ष निकलता है? क्या पूंजीवाद के नियम बदल गये हैं? क्या आज पूंजीवाद नहीं रह गया है? क्या उसकी जगह पर कोई और व्यवस्था आ गयी है? क्या यह सही नहीं है कि सूचना-तंत्र और मीडिया पर दुनिया के बड़े-बड़े एकाधिकारियों का कब्जा है और दुनिया के कोने-कोने में वे ही समाचार, प्रचार सामाग्री और मालों की बिक्री को लगातार दूँसे जा रहे हैं और व्यापक मेहनतकश आबादी इन्हीं के द्वारा निर्मित मूल्यों-मान्यताओं को अनजाने ही ग्रहण करने के लिए अभिशप्त है। दूसरी तरफ, वे दुनिया के कोने-कोने में अपने उत्पादकों को तैयार करने के लिए और दूर-दराज तक उन्हें बेचने के लिए समूची दुनिया में अपना जाल फैला रहे हैं। क्या इससे उनके मुनाफा कमाने की भूख और ज्यादा नहीं बढ़ गयी है? पूंजीवाद-साम्राज्यवाद के बुनियादी तर्क-संचय और मुनाफे को अधिकाधिक करने में क्या कोई फर्क आया है? कतई नहीं। यदि इसमें कोई फर्क नहीं आया है तो पूंजीवाद-साम्राज्यवाद जस-का-तस बरकरार है और यह अपने खूनी पंजे से समूची दुनिया के मजदूरों और मेहनतकशों का खून निकाल रहा है, मांस नोंच रहा है। मूलाधार में बगैर कोई परिवर्तन आये एक नये युग का सूत्रपात कैसे हो गया है?

उत्तर-आधुनिकतावादियों की दृष्टि में सत्ता पूंजी का संकेद्रण जोरों पर है। राज्य विकेंद्रित हो गया है। इसका कोई केन्द्र नहीं है। इस विरोधाभासी स्थिति से निपटने के लिए उन्हें कभी यह कसरत करनी पड़ती है कि अब यह पूंजीवाद ही नहीं रह गया है, तो कभी इसे सर्वव्यापक मानकर इस सवाल पर चुप्पी साध ली जाती है, तो कुछ उत्तर मार्क्सवादी इसे एक स्वाभाविक गति मान लेते हैं। कुछ इसकी ताकत से भयभीत होकर, इसके भीतर से ही नयी समाज-व्यवस्था में सुधारवादी तरीकों से संक्रमण देखते हैं। वे इसे उत्तर-आधुनिकतावादी समाजवाद का नाम देते हैं।

## क्या यह युग का बदलाव है?

एक मुद्दा यह है कि वे युग का बदलाव चिन्हित करने के लिए आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। ये दोनों शब्द न तो किसी समाज व्यवस्था का चित्रण करते हैं और न ही इन शब्दों से किसी युग का सटीक बोध होता है। आधुनिकता के युग में पूंजीवादी दृष्टिकोण की विचारधारायें थीं और मार्क्सवादी विचारधारायें ही नहीं थीं बल्कि समाज व्यवस्थायें भी एक समय तक थीं। तब फिर आधुनिकता के ढाँचे में इन दोनों समाज व्यवस्थाओं को किस तर्क से एक साथ नत्थी किया जा सकता है? क्या सिर्फ इस बात से कि ये महाख्यानो पर निर्मित विचारधारायें और व्यवस्थायें थीं। "महाख्यान" से निर्मित सामाजिक व्यवस्था एक तो समाप्त हो गयी, लेकिन दूसरी बनी हुई है, तो फिर यह महाख्यान पर निर्मित व्यवस्था-यानी पूंजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था का अंत वे किस तरह से दर्शाते हैं? यदि वे इसे नहीं दर्शाते तो फिर आधुनिकता के युग की समाप्ति कैसे हो गयी? यह तर्कातीत तर्क है। चूंकि उत्तर-आधुनिकतावादी ऐसे ही तर्कातीत तर्कों का सहारा लेते हैं, इसलिए वे युग की समाप्ति की घोषणा बिना किसी ठोस आधार के करते हैं।

## सामाजिक आधार

तब यह सवाल उठता है कि उत्तर-आधुनिकतावादियों के पैदा होने के विचारधारात्मक और सामाजिक आधार क्या हैं? कोई भी विचारधारा हवा में पैदा नहीं होती। इसके प्रादुर्भाव के निश्चित ही समाज में आधार होते हैं।

सर्वप्रथम, यह विचारधारा '70 के दशक में पैदा हुई। यह वह समय था जब यूरोप और अमरीका में पूंजीवाद पर ऊपरी तौर पर देखने पर परिवर्तन आ रहा था। माल उत्पादन क्षेत्र की तुलना में सेवा क्षेत्र का ज्यादा विस्तार हो रहा था। विशिष्ट किस्म के मालों के लिए विशेष उपभोक्ता वर्ग की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उत्पादन हो रहा था। विकास के नये-नये कीर्तिमान स्थापित हो रहे थे। "समृद्ध समाज"की चर्चा आम हो गयी थी। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर पूंजीवादी दुनिया "कल्याणकारी राज्यों"को स्थापित कर रही थी। इससे पश्चिम के पूंजीवादी समाज में वर्ग विरोध धूमिल पड़ रहे थे। मजदूर वर्ग की राजनीति चेतना कुंद हो रही थी। लेकिन इसी समय पूंजीवादी व्यवस्था में अंतरनिहित पूंजीवादी संकट के बीज भी पड़ चुके थे, जिसकी परिणति '80 के दशक में स्पष्टतौर पर रीगन के जमाने में दिखाई पड़ने लगी थी। इसी के समानान्तर अमरीकी राज्य अधिकाधिक पूंजीवादी जनवाद के दायरे को सीमित कर रहा था। समृद्धि के साथ साथ राजनीतिक अनुदारता बढ़ती जा रही थी। इससे कतिपय बुद्धिजीवी यह निष्कर्ष निकाल रहे थे कि पूंजीवाद का "सार्वभौमिक"मानवता की मुक्ति का लक्ष्य समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे के, उसके नारे, असफल हो गये हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद के प्रादुर्भाव का यह एक सामाजिक कारण था।

द्वितीयतः समाजवादी सोवियत संघ के पूंजीवादी राज्य में तबदील हो जाने और विश्वव्यापी पैमाने पर मजदूर आंदोलन तथा कम्युनिस्ट पार्टियों में आये पतन से समाजवादी समाज के उच्चादर्शों के प्रति इन बुद्धिजीवी हलकों में निराशा और अविश्वास को जन्म दिया। जहां पहले समाजवादी समाज व्यवस्था प्रेरणास्रोत का कार्य करती थी और मार्क्सवाद का समूची मानवता को पूंजीवादी स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के नारे से आगे जाकर वर्ग-विहीन शोषण-विहीन समाज स्थापित करने का उच्चादर्श भारी उत्साह पैदा करता था, वहीं सोवियत संघ में आये पूंजीवादी बदलावों के कारणों को समझने के बजाय ये बुद्धिजीवी इसे मार्क्सवाद की ही असफलता कहने लगे।

तृतीयतः पूर्व के उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष '70 से '80 के दशक तक काफी देशों में सम्पन्न हो चुके थे। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन समूची दुनिया में आशा और उत्साह का संचार कर रहे थे। जब इन देशों में देशी शासक वर्ग सत्ता में आया तो उसने भी विकास का जो रास्ता अलग-अलग देशों में चुना वह भी अंधी गली में जाकर फंस गया। ये राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन विश्व समाजवादी क्रांति के हिस्से थे लेकिन सत्ता में आने के बाद ये उसी विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के अंग के तौर पर काम करने लगे। जब तक राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन चल रहे थे, पश्चिमी जगत के बुद्धिजीवियों सहित दुनिया भर के प्रगतिशील लोगों के लिए प्रेरणास्रोत थे। लेकिन यह भी प्रेरणास्रोत अब नहीं रह गया था।

पहले तो इन बुद्धिजीवियों ने मार्क्सवाद में परिवर्तन करके इसके "जड़सूत्रवाद" को खतम करने के नाम पर सिर्फ इसे एक विश्लेषण पद्धति तक सीमित करने का प्रयास किया और सर्वहारा वर्गों में आये परिवर्तनों को चिह्नित करके उसकी नेतृत्वकारी भूमिका पर सवाल उठाये। पूंजीवादी राज्य के कल्याणकारी होने से उसको व्यापक जन-समुदाय से समर्थन मिलने के कारण उसके भीतर से समाजवादी राज्य के उदय की क्रमबद्ध विकास की धारणा प्रस्तुत की और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की अवधारणा को रद्द करने की ओर गये। ग्राम्सी और अल्थ्यूसर से प्रभावित ये धारार्ये नववाम (न्यूलेफ्ट) के नाम से चर्चित हुई। और बाद में इनमें से यूरो कम्युनिज्म की धारा पैदा हुई। लेकिन जब ये धारार्ये भी यूरोपीय समाज में कोई प्रभावकारी भूमिका नहीं निभा पायीं तो इन्होंने और ज्यादा आत्मपरकता की तरफ कदम बढ़ाये।

पूंजीवाद में आये संरचनागत बदलाव और उछाल (Boom) के दौर में "समृद्ध समाज" में आये उपभोक्तावाद से जीवन स्थितियों के कारण मजदूर आंदोलन में गिरावट तथा समाजवादी सोवियत संघ के पतन और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की भी सीमार्ये जाहिर हो जाने के बाद इनमें आयी पस्तहिम्मी और निराशा से इन्होंने निष्कर्ष निकाला कि व्यापक सामाजिक मुक्ति तो सम्भव दिख नहीं रही हैं, इसलिए अलग-अलग "पहचानों" को लेकर आंदोलन ही समाज को आगे बढ़ाने का उपकरण बन सकते हैं। यह वही समय था जब 1968 में, फ्रांस में छात्र विद्रोह हुआ था। 'न्यू लेफ्ट' के इन बुद्धिजीवियों ने इस विद्रोह का समर्थन और इसमें सक्रिय भागीदारी की थी। इसी प्रकार, स्वतंत्र नारीवादी आंदोलन जगह-जगह खड़े हो रहे थे। अमरीका में काले लोगों का व्यापक आंदोलन खड़ा हुआ था। इन बुद्धिजीवियों ने इन अलग-अलग आंदोलनों को परिवर्तन

के वाहक के तौर पर सूत्रित किया तथा इसे सैद्धान्तिक शकल देकर उत्तर-आधुनिकतावाद की विचारधारा के स्तर तक पहुंचा दिया।

पूँजीवाद की सर्वशक्तिमत्ता स्वीकार करके और वैकल्पिक आदर्श के अभाव में इन्होंने इन "पहचानों" के दायरे में तथा नये सामाजिक आंदोलनों पर्यावरण, पारिस्थितिकी आदि में अपने पलायन का रास्ता चुना। यही इनके पलायन का सामाजिक आधार था। इस सामाजिक आधार से इनकी विचारधारा खड़ी हुई। आज एन.जी.ओ. समूहों में अधिकांशतः इन्हीं पहचानों ओर नये सामाजिक आंदोलनों में लगे हुए हैं। इनका दार्शनिक आधार उत्तर-आधुनिकतावाद में मिलता है। चूंकि इन पहचानों, नारी; दलित; नस्ल; प्रजाति; राष्ट्रीयता; भाषा; संस्कृति में वर्ग गायब है, वर्ग दृष्टिकोण गायब है, अतः ये सारे आंदोलनों की धार स्थापित पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध एक सीमा से बाहर नहीं जाती। अतः ये सारे आंदोलन उस खास पहचान के अभिजातों के पूँजीवादी व्यवस्था में आत्मसातीकरण के आंदोलन बन जाने को अभिशप्त हैं। यही कारण है कि इनमें से अधिकांश आंदोलनों की विचारधारा उत्तर-आधुनिकतावादी हो जाती है।

अतः उत्तर-आधुनिकतावादी विचारधारा पूर्व मार्क्सवादियों की निराशा से उपजी विचारधारा है। ये क्रांतिकारी का बिल्ला भी लगाये हुए हैं और क्रांति कर्म के दायित्वों से मुक्त भी हैं। चूंकि इनकी दृष्टि में सभी व्यवस्थाएँ सर्वसत्तावादी होती हैं, इसलिए ये किसी भी वैकल्पिक व्यवस्था के विरुद्ध हैं। यह इनका अराजकतावाद है। हाशिये वाले अगर केन्द्र में आ जायें तो वे भी सर्वसत्तावादी हो जायेंगे। इसलिए ये हाशिये पर पड़े लोगों की पहचान के लिए तो संघर्ष करेंगे, लेकिन उनकी सत्ता के लिए नहीं।

हमारे देश में भी उत्तर-आधुनिकतावादियों की एक नस्ल तैयार हो रही है जो अपने को उत्तर-औपनिवेशिक के तौर पर चित्रित करती है। ये लोग हाशिये पर डाल दिये गये लोगों और अन्यत्व का भाव लिये लोगों की आवाज को बुलंद करने का दावा करते हैं। ये भी वैसे ही बुद्धिजीवी हैं, जो व्यापक परिवर्तन के किसी भी परिप्रेक्ष्य से इंकार नहीं करते हैं। इनकी निगाह में जो लोग हाशिये में पड़े हैं, वे बोल नहीं सकते। इसलिए ये उनके अधिकारिक प्रवक्ता के तौर पर सामने आते हैं। कभी 'सब आल्टर्न' के नाम से चर्चित ये बुद्धिजीवी आज उत्तर-औपनिवेशिक कहे जा रहे हैं। इनका दावा है कि पूर्व औपनिवेशिक देशों के लोगों की भावनाओं, संस्कृति और सरोकारों को वे ही ज्यादा बेहतर समझ सकते हैं जो पूर्व उपनिवेशों के हों और विस्थापित होकर पश्चिमी देशों में चले गये हों। क्योंकि ये वर्णसंकर बुद्धिजीवी ही दोनों संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करके उनके बीच संवाद के पुल का काम कर सकते हैं। इनको साम्राज्यवादियों और हाशियों पर पड़े लोगों के बीच संवाद स्थापित कराना है। पूर्व उपनिवेशों की व्यापक मेहनतकश आबादी को न तो साम्राज्यवाद से मुक्त कराना है और न ही देशी पूँजीवाद से। इन वर्णसंकर बुद्धिजीवियों में रणजीत गुहा, होमी भाभा, गायत्री चक्रवर्ती, स्पिवाक, दीपेश चक्रवर्ती, ज्ञान प्रकाश और एडवर्ड सर्ईद जैसे लोग आते हैं।

ये बुद्धिजीवी हाशिये पर पड़े लोगों के संघर्ष के भाष्यकार हैं। हमारे देश के नारीवादी आंदोलन, दलित आंदोलन, पर्यावरण तथा अन्य मसलों पर चलने वाले आंदोलनों को ये दार्शनिक आधार उपलब्ध कराते हैं। उत्तर-उपनिवेशवाद, उत्तर-आधुनिकतावाद की ही एक किस्म है।

उत्तर-आधुनिकतावाद या उत्तर-उपनिवेशवाद के निष्कर्षों की तुलना यदि उस विशुद्ध पूँजीवादी लेखक फ्रांसिस फुकोयामा की पुस्तक "इतिहास के अंत या अंतिम मनुष्य" से की जाय तो दोनों में दो विपरीत छोर से आने के बावजूद आश्चर्यजनक समानता दिखाई पड़ती है और वह है कि इतिहास की अंतिम अवस्था पूँजीवाद ही है और यही रहेगा। अंतर सिर्फ यह है कि जहां फ्रांसिस फुकोयामा पूँजीवाद की मौजूदा विश्वव्यापी जीत का विजयोल्लास खुले रूप में मना रहे हैं, वहीं उत्तर-आधुनिकतावादी पूर्व मार्क्सवादी इस खुशी को यदा-कदा ही व्यक्त करते हैं तथा इसके साथ आज की वास्तविक समस्याओं पर चिंता व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार, यदि निष्कर्ष के तौर पर बात की जाय तो उत्तर-आधुनिकतावाद का दर्शन भाववादी है। इतिहास को देखने का नजरिया अनैतिहासिक है। यह पराजयवाद से उत्पन्न हुई पूँजीवादी विचारधारा है।

